आदि शास्त्रोक्त नियमों के अनुसार सत्ताईस श्वासोच्छ्वास तक अथवा उपर्युक्त काल तक जिनेन्द्र भगवान के गुणों का चिन्तन करते हुए शरीर का त्याग किया जाना कायोत्सर्ग है–

देवस्सियणियमादिसु, जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि।
जिणगुणचिंतणजुतो, काउसग्गो तणुविसग्गो।।[1]

कायोत्सर्ग करने वाला भार मुक्त वाहक की भांति निवृत्तहृदय (भार रहित हृदय) हो जाता है और प्रशस्त ध्यान में लीन होकर सुखपूर्वक विहार करता है।[2]

प्रत्याख्यान

प्रत्याख्यान छठा आवश्यक है। प्रति + आ + ख्यान इन तीन पदों से मिलकर प्रत्याख्यान शब्द बना है। यहाँ प्रति का अर्थ है–प्रतिकूल प्रवृत्ति, आ – मर्यादापूर्वक और ख्यान का अर्थ है–कथन करना। इस प्रकार अनादिकाल से विभाव दिशा में रही आत्मा के द्वारा वर्तमान स्वभाव से प्रतिकूल मर्यादाओं मर्यादाओं का त्याग करके अनुकूल मर्यादाओं को स्वीकार करना प्रत्याख्यान अथवा पच्चक्खाण कहलाता है।[3] भविष्यकाल के प्रति मर्यादा के साथ अशुभयोग से निवृत्ति और शुभयोग में प्रवृत्ति का आख्यान प्रत्याख्यान है अयोग्य द्रव्य का परिहार करना अथवा तप में बाधक योग्य द्रव्यों का भी त्याग करना प्रत्याख्यान ही है।[4]

समयसार के अनुसार–भविष्यकाल का शुभ और अशुभ कर्म जिस भाव से बनता है, उस भाव से जो आत्मा निवृत्त होता है, वह प्रत्याख्यानयुक्त आत्मा है।[5] इस तरह समस्त वाचनिक विकल्पों का त्याग करके तथा अनागत शुभाशुभ का निवारण करके जो साधु आत्मा को हटाता है, उसके प्रत्याख्यान आवश्यक होता है।[6] अतः भविष्यकाल के प्रति आ-मर्यादा के साथ अशुभयोग में निवृत्ति और शुभयोग में प्रवृत्ति का आख्यान करना प्रत्याख्यान है।

1. समण०, 434 तथा मिलाइए
   अमित०श्राव०, 8/36
2. उत्तरा०, 29/13
3. योग०, पृ० 389
4. मूला०, 1/27
5. समय०, 384
6. मोत्तूण सयलजप्प मणागयसुहमसुहवारणं किच्चा।
   अप्पाणं जो झायदि, पच्चक्खाणं हवे तस्स।।
   समण०, 436 तथा दे० जै०द० और क०, पृ० 349

(क) प्रत्याख्यान के दो भेद

प्रत्याख्यान के मुख्य दो भेद बतलाए गए हैं। वे हैं–

1. मूलगुण प्रत्याख्यान और 2. उत्तरगुण प्रत्याख्यान। पुनः मूलगण प्रत्याख्यान के भी दो भेद हो जाते हैं–(क) सर्वमूलगुण प्रत्याख्यान और और (ख) देशमूलगुण प्रत्याख्यान। सर्वमूलगुण प्रत्याख्यान में श्रमण के पांच महाव्रत आते हैं जबकि देशमूलगुण प्रत्याख्यान में श्रमणोपासक के पांच अणुव्रतों का ही पालन किया जाता है।

उत्तरगुण प्रत्याख्यान प्रतिदिन या कुछ दिनों के लिए ग्रहण किया जाता है। गृहस्थों के लिए तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत–ये सात उत्तरगुण प्रत्याख्यान बतलाए गए हैं।

(ख) प्रत्याख्यान के नौ भेद

उत्तराध्ययनसूत्र में प्रत्याख्यान के नव भेदों का उल्लेख मिलता है। जैस कि–

संभोग प्रत्याख्यान

श्रमणों द्वारा लाए आहार को एक स्थान पर मण्डलीबद्ध बैठकर खाने का परित्याग करना संभोग प्रत्याख्यान है। इस प्रत्याख्यान को अपनाने से प्राणी का परवलम्बी पन छूट जाता है और वह स्वावलम्बी बन जाता है।[1] इसकी यही विशेषता है।

उपाधि प्रत्याख्यान

वस्त्र आदि उपकरणों का त्याग करना उपाधि प्रत्याख्यान है। इससे स्वाध्याय में निर्विघ्नता प्राप्त होती है, फिर उपाधि मोह से रहित साधक इच्छाओं से मुक्त होकर उपाधि प्राप्त न होने पर क्लेश को प्राप्त नहीं करता है, वह दुःखी भी नहीं होता।[2]

आहार प्रत्याख्यान

आहार का परित्याग आहार प्रत्याख्यान है। इससे जीवन के प्रति ममत्व का

1. उत्तरा०, 29/34
2. उवहिपच्चक्खाणेणं अपलिमन्थं जणयइ। निरूवहिए णं
   जीवे निक्कंखी उवहिमन्तरेण य न संकिलिस्सई।।
   उत्तरा०, 29/35

अभाव हो जाता है अर्थात् जीवन की लालसा को छोड़ साधक आहार के न मिलने पर क्लेश को धारण नहीं करता।[1]

कषाय प्रत्याख्यान

कषाय अर्थात् क्रोध-मान-माया-लोभ का परित्याग कर देने से साधक को वीतरागता की प्राप्ति होती है और वह सुख-दुःख में समान रहने की भावना से ओतप्रोत रहता है।[2]

योग प्रत्याख्यान

मन, वचन और काय संबंधी प्रवृत्ति को रोकना योग प्रत्याख्यान है। इससे साधक अयोगी बन जाता है। उसके अयोगी हो जाने पर उसे नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता और पूर्वबद्ध कर्मों की उसे सहज निर्जरा भी हो जाती है।[3]

शरीर प्रत्याख्यान

इसमें अशरीरी सिद्धावस्था प्राप्त होती है।[4]

सहाय प्रत्याख्यान

अपने कार्य में किसी का सहयोग न लेना सहाय प्रत्याख्यान है। इसमें जीव एकत्व का लाभ प्राप्त कर लेता है। एकत्व भावी होने से वह शुद्धविहीन, कलहविहीन, संयम बहुल एवं समाधि बहुल हो जाता है।[5]

1. आहारपच्चक्खाणेणं जीवियासंसप्पओगं वोच्छिन्दइ। जीवियासंसप्पओगं वोच्छिन्दित्ता जीवे आहारमन्तरेणं न संकिलिस्सइ।।
   उत्तरा०, 29/36
2. कसायपच्चक्खाणेणं वीयरागभावं जणयइ।
   वीयरागभाव पडिवन्ने य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ।।
   उत्तरा०, 29/37
3. जोगपच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ। अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं निज्जरेइ।।
   उत्तरा०, 29/38
4. उत्तरा०, 29/39
5. सहायपच्चक्खाणेणं एभीभावं जणयइ। एगीभावभूत वि य णं जीवे एगतं भावेमाणे, अप्पाहे, अप्पझंझे, अप्पकलहे, अप्पकसाए, अप्पतुमतुमे, संजमबहुले, संवरबहुले, समाहिए यावि भवइ।। उत्तरा०, 29/40

भक्त प्रत्याख्यान

भक्त अनशन कहलाता है और भक्त प्रत्याख्यान से मानव नाना योनियों से होने वाले सैकड़ों जन्मों की परम्परा का निरोध कर लेता है।[1]

सद्भाव प्रत्याख्यान

सभी प्रकार की प्रवृत्तियों का परित्याग कर वीतराग अवस्था को प्राप्त करना सद्भाव प्रत्याख्यान कहलाता है, जिससे जीव सभी प्रकार के कर्मों से मुक्त हो जाता है।[2]

(ग) प्रत्याख्यान के दस भेद

श्रमणों और श्रमणोपासक दोनों के लिए दस प्रकार के प्रत्याख्यान भी मिलते हैं जिनकी विशेष चर्चा स्थानांगसूत्र,[3] भगवतीसूत्र,[4] मूलाचार आदि ग्रन्थों में की गई है। वे हैं-

अनागत प्रत्याख्यान

पर्व के समय वृद्ध, रुग्ण, तपस्वी आदि की सेवा सहज रूप से की जा सके। इसके लिए जाने आगे किए जाने वाले तप को पहले करना अनागत प्रत्याख्यान है।

अतिक्रान्त प्रत्याख्यान

जो तप कारणवश वर्तमान में न किया जा सके, उसे भविष्य में करना अतिक्रान्त प्रत्याख्यान है।

कोटि सहित प्रत्याख्यान

जो एक प्रत्याख्यान का अंतिम दिन और दूसरे प्रत्याख्यान का आदि दिन हो, वह कोटि सहित प्रत्याख्यान है। जैसे-उपवास का पारणा किए बिना ही अगला तप आरम्भ करना।

1. भत्तपच्चक्खाणेणं अणेगाइं भवसयाइं निरूम्भइ।।
   उत्तरा०, 29/41
2. उत्तरा०सू०, 29/42
3. दसविहे पच्चक्खाणे पणत्ते, तंजहा-अणागयमतिक्कंतं कोडिसहियं णियंटितं चेव।
   सागारमणागारं परिमाणकडं णिरवसेसं, संकेयगं चेव अद्धाय, पच्चक्खाणं दसविहं तु।।
   स्था०सू०, 10/101
4. भग०सू०, 7/2

नियन्त्रित प्रत्याख्यान

निरोग या सरोग अवस्था में नियंत्र का नियमपूर्वक अवश्य ही किया जाने वाला तप नियन्त्रित प्रत्याख्यान कहलाता है।

सागार प्रत्याख्यान

आगार या अपवाद के साथ किया जाने वाला तप सागार प्रत्याख्यान है।

अनगार प्रत्याख्यान

अपवाद या आगार के बिना किया जाने वाला तप अनगार प्रत्याख्यान है। इस प्रत्याख्यान में दृढ़ मनोबल की आवश्यकता रहती है।

परिमाणकृत प्रत्याख्यान

दत्ति, कवल, गृह, द्रव्य और भिक्षा आदि के परिमाण वाला प्रत्याख्यान परिमाणकृत प्रत्याख्यान है।

निरवशेष प्रत्याख्यान

चारों प्रकार के आहार का सर्वथा परित्याग निरवशेष प्रत्याख्यान कहा गया है।

संकेत प्रत्याख्यान

संकेत या चिह्न के साथ किया जाने वाला प्रत्याख्यान संकेत प्रत्याख्यान है। जैसे मुट्ठी बांधकर या किसी वस्त्र में गांठ लगाकर जब तक मैं मुट्ठी या गांठ नहीं खेलूंगा तब तक कोई वस्तु मुख में नहीं डालूंगा।

अद्धा प्रत्याख्यान

मुहूर्त, प्रहर आदि काल की मर्यादा के साथ किया जाने वाला प्रत्याख्यान अद्धा प्रत्याख्यान है।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्याख्यान से भविष्य में आने वाली अव्रत की सभी क्रियाएँ रुक जाती हैं और साधक नियमों-उपनियमों का सम्यक् पालन करता है।

उपासकदशांगसूत्रानुसार उपासक आनन्द ने कुटुम्बिक जनों की उपस्थिति में अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंप दिया और पौषधशाला में जाकर श्रमण

भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्मप्रज्ञप्ति की आराधना करने लगा।[1] धर्म क्रियाओं में षडावश्यक मुख्य क्रिया है।

(घ) तप

1. तप का महत्त्व

तप जैन संस्कृति का प्रधान तत्त्व है। तप की गरिमा और महिमा का जो गौरवगान जैन संस्कृति में मिलता है, वह अनूठा है, अपूर्व है। स्थानांग[2] और समवायांग सूत्र[3] में दशविध धर्म का जो उल्लेख है, उसमें तप भी एक है। जैन संस्कृति ने तप को भी धर्म माना है, इसलिए इसे उत्कृष्ट मंगल बतलाया गया है।[4]

जैन संस्कृति के साथ-साथ वैदिक ऋषियों ने भी कहा है कि तप से ही ऋत और सत्य समुत्पन्न हुए हैं।[5] जो भी दुर्लभ एवं दुष्कर है, वह सभी तप से साध्य हैं।[6] महाभारत में स्वर्ग प्राप्ति के सात द्वार बतलाए गए हैं, जिसमें प्रथम द्वार तप है।[7]

तप जीवनोत्थान का प्रशस्त पथ है। तप की उत्कृष्ट आराधना और साधना से तीर्थंकर जैसे गरिमामयपद की भी उपलब्धि होती है। यदि हम सभी तीर्थंकरों के पूर्व भवों का अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि सभी तीर्थंकरों ने अपने पूर्व भवों में तप की महान् साधनाएँ की थीं। आवश्यक निर्युक्ति,[8] आवश्यक चूर्णि[9] के अनुसार महावीर

---

1. उपा०सू०, 1/66
2. खंती, मुत्ती अज्जवे, मद्दवे, लाघवे, सच्चे, तवे, चियाए, बंभचेर वासे।।
   स्था०सू०, 10/16
3. सम०सू०र, 10 समवाय 61
4. धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।।
   दशवै०सू०, 1/1
5. ऋतं च सत्यं नाभीद्धात्तपसोऽध्याजायत।।
   ऋग्०, 10, 190, 1
6. सद दुस्तरं यददुरापं दुर्गं यच्च दुष्करम्।
   सर्वं तु तपसा साध्यं तपोहि दुरतिक्रमम्।।
   मनु०, 11/137
7. महाभा०, (आदिपर्व) 90/22
8. आव०नि०, 450
9. आव०चू०, पृ० 235

के जीव ने नन्दन के भव में एक लाख वर्ष तक निरन्तर मांस खमण की तपस्या की थी। इस तरह पूर्ववद्ध कर्मों की तप साधना द्वारा ही निर्जरा की जा सकती है।

2. तप की निरुक्तिपरक व्याख्या

तप शब्द 'तप्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है तपना, जलना।[1] जैन संस्कृति के अनुसार जो कर्मों को जलाए, तपाए–वही तप है। तप का दूसरा अर्थ तपस्या या धार्मिक कठोर साधना भी किया गया है।[2]

तप साधना से रस, रक्त, मांस, मद, अस्थि, मज्जा और शुक्र तप जाते हैं, सूख जाते हैं और अशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं, जल जाते हैं। इस तरह जो आठ प्रकार के कर्म को तपाना है, उन्हें नष्ट करना है, वह भी तप ही है।[3] आचार्य तुलसी के मत में इन्द्रिय और मन का निग्रह करने वाला अनुष्ठान कर्म शरीर का ताप होने के कारण सम्यक् तप कहलाता है।[4] अतएव अपनी आत्मा में करोड़ों भवों से संग्रहित किए कर्मों को संयमी पुरुष के लिए तपस्या के द्वारा क्षय कर देना चाहिए।[5]

3. तप के भेद

आत्मशुद्धि के लिए की जाने वाली कोई भी प्रवृत्ति तप हो सकती है, इसलिए तप के स्वरूप का वर्गीकरण करना और उसकी सीमा निर्धारण करना बहुत कठिन है फिर भी जैन दर्शन की दृष्टि से सम्पूर्ण तप को दो भागों में विभक्त किया गया है–बाह्य तप और आभ्यन्तर तप।[6]

---

1. संस्कृत हिन्दी कोष, पृ० 421
2. वही, पृ० 421
3. (क) तप्यते अणेण पावं कम्ममिति तपो।
   (ख) तापयति अष्ट प्रकारं कर्म इति तपः।। (जिनदास चूर्णि) दशवै०, पृ० 15
4. जै०सि०दी०, 6/28
   उत्तरा०सू०, 30/12-13
5. भवकोडी संचियं कम्मं, तवसा णिज्जरिज्जइ।।
   वही, 30/6
6. सा तवो दुविहो वुत्तो-बाहिरब्भन्तरो तहा।।
   वही, 30/7
   (तथा दे०) दुविहे तवे पण्णत्ते, तंजहा–बाहिरए य अब्भितरए य।।
   भग०सू०, 25/7/103

(अ) बाह्य तप

जिस तप में शारीरिक क्रिया की प्रधानता होती है और जो बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा से युक्त होने से दूसरों को दृष्टिगोचर होता है, वह बाह्य तप है। समवायांगसूत्र के वृत्तिकार आचार्य अभयदेव सूरि कर्म क्षय करने के लिए शरीर को जो कष्ट दिया जाता है, उसे बाह्य तप मानते हैं।[1]

बाह्य तक के छह भेद मिलते हैं। वे हैं–अनशन तप, ऊनोदरी तप भिक्षाचर्यतप, रसपरित्यागतप, कायक्लेशतप और प्रतिसंलीनतातप।[2]

1. अनशन तप

अनशन का अर्थ है–आहार और आहार का त्याग करना अनशन कहलाता है।[3]

अनशन शब्द नञ्+अश् धातु में ल्युट् प्रत्यय लगने से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है–उपवास करना।[4] समणसुत्तं में वर्णित है कि जो कर्मों की निर्जरा के लिए एक या दो दिन आदि का प्रमाण तय करके आहार का त्याग करता है, उसके अनशन तप होता है।[5] अशन (अन्न), पान (जलादि पेय पदार्थ), खाद्य (पक्वान्न, मेवा, मिष्ठान आदि) और स्वाद्य (मुख) को सुवासित करने वाले इलायची, सुपारी आदि) चारों प्रकार के पदार्थ 'अशन' शब्द से गृहीत होते हैं। ये चारों प्रकार के अथवा 'पान' को छोड़कर तीनों प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन तप कहलाता है।[6] गीता में

---

1. बाह्य तपः–बाह्यशरीरस्य परिशोषणेन कर्मक्षपणहेतुत्वादिति।।
   सम०, वृत्ति-6
2. बाहिरए तवे छव्विहे पण्णत्ते, तंजहा-अणसणं, ओमोयरिया, भिक्खायरिया
   रसपरिच्चाओ, कायकिलेसो, पंडिसंलीणता।।
   भग०सू०, 25/7/104
   तथा दे० उत्तरा०सू०, 30/8, त०सू०, 9/19
   स्था०सू०, 6/65, औप०सू०, 30
3. आहाररस्तत्परित्यागोऽनशनम्।।
   तत्त्वा०, पृ० 236
4. संस्कृत हिन्दी कोष, पृ० 32
5. कम्माण निज्जरट्ठं, आहारं परिहरेइ लीलाए।
   एगदिणादिपमाणं, तस्स तवं अणसणं होदि।।
   समण०, 442
6. जै०त०क०, पृ० 157
   (तथा०दे०) खाद्यादिचतुर्द्धाहारसंन्यासोऽनशनं मतम्।। लाटी० 6/76

आता है कि आहार का त्याग करने वाले व्यक्ति के मनोविकार दूर हो जाते हैं–विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।[1]

अनशन तप दो प्रकार का कहा गया है–इत्वरिक अनशन (थोड़े समय का) और यावत्कथित अनशन (जीवन पर्यन्त)।[2]

(क) इत्वरिक अनशन

अमुक काल की मर्यादा के साथ किया जाने वाला अनशन इत्वरिक अनशन कहलाता है। तत्त्वार्थसूत्र की टीका में कहा गया है कि चतुर्थ भक्त (व्रत) से लेकर षण्मास पर्यन्त उपवास आदि करना इत्वरिक अनशन तप है।[3] उत्तराध्ययनसूत्र में इत्वरिक तप के निम्न छह भेद बतलाए गए हैं–1. श्रेणीतप, 2. प्रतरतप, 3. धनतप, 4. वर्गतप, 5. वर्गावर्गतप और 6. प्रकीर्णतप।[4] जबकि भगवतीसूत्र में इत्वरिक अनशन के निम्न ग्यारह प्रकार बतलाए गए हैं–चतुर्थ भक्त (उपवास), षष्ठभक्त (बेला), अष्टमभक्त (तेला), दशमभक्त (चौला), द्वादशभक्त (पंचौला), चतुर्दशभक्त (छह उपवास), अर्द्धमासिकभक्त (पंद्रह दिन के उपवास), मासिकभक्त (एक महीने के उपवास), द्विमासिकभक्त, त्रिमासिकभक्त और यावत् षाणमासिक व्रत इत्वरिक अनशन है।[5] यह इत्वरिक तप साकांक्ष होता है अर्थात् इसमें इच्छापूर्वक समय निर्धारित होता है।

---

1. श्रीमद्भाग०, 2/59
2. इत्तरिय मरण काला य, अणसंण दुविहा भवे।
   इतरिय सावकंखा, निखकंखा य विइज्जिया।।
   उत्तरा०सू०, 30/9
   तथा दे०, भग० 25/7/105
3. चतुर्थ भक्तादि तु भाष्यकारेणोपन्यस्तमतीत्वरत्वादित रदु-
   पेक्षितम् चतुर्थभक्तादि षण्मासपर्यवसानमित्वरमनशनं।।
   तत्त्वा०, पृ० 236
4. जो सो इत्तरिय तवो, सो समासोण छव्विहो।
   सेढितवो पयरतवो, घणो य तह होइ वग्गो य।
   तत्तो य वग्गवग्गो, पंचमो छट्ठओ पइण्णतवो।
   मणइच्छियचित्तत्थो, नायव्वो होइ इत्तरियो।।
   उत्तरा०सू०, 30/10-11
5. भग०सू०, 24/7/106
   तथा दे०औप०सू०, 30

(ख) यावत्कथिततप

मारणान्तिक उपसर्ग आने पर, असाध्य रोग हो जाने पर या बहुत अधिक जराजीर्ण अवस्था हो जाने पर जब आयु का अन्त निकट प्रतीत हो, तब जीवन पर्यन्त के लिए अनशन करना यावत्कथिततप है।

यावत्कथिततप भी दो प्रकार का बतलाया गया है–1. पादोपगमन, 2. भक्तप्रत्याख्यान।[1] चारों प्रकार के आहार का जीवन पर्यन्त त्याग के साथ शरीर का भी त्याग कर देना अर्थात् हिलना, चलना बन्द करके एक ही आसन से जीवन पर्यन्त बैठे रहना पादोपगमन अनशन है तथा चारों प्रकार के आहार का जीवन पर्यन्त त्याग करना भक्त प्रत्याख्यान है।[2]

उत्तराध्ययन सूत्र में यावत्कथित अनशन तप के कायचेष्टा को लेकर सविचार और अविचार रूप से दो प्रकार के अन्य भेदों का उल्लेख मिलता है। इसी सूत्र के एक अन्य स्थल में सपरिकर्म और अपरिकर्म तथा अनिहारी और निहारी–ऐसे ये दो-दो और अन्य भेद भी किए गए हैं। आहार का सर्वथा त्याग इन दोनों में ही होता है।[3]

तत्त्वार्थसूत्र की टीका में यावत्कथित तप के तीन भेद बतलाए हैं। वे हैं–पादोपगमन, इंगिनी और भक्तप्रत्याख्यान।[4]

2. ऊनोदरी तप

आहार, पानी, वस्त्र, पात्र एवं कषाय आदि की अल्पता करने को ऊनोदरिका (ऊनोदरी) कहते हैं–अल्पत्वमूनोदरिका।[5] समणसुत्तं में भी बतलाया गया है कि जो

---

1. आवकहिए दुविहे पण्णत्ते, तंजहा-पाओवगमणे य भत्तपच्चक्खाणे य।।
   भग०सू०, 25/7/07
   तथा दे०औप०सू०, 30
2. नि०प्र० पृ० 582
3. जा सा अणसणा मरणे, दुविहा सा वियाहिया।
   सवियारमवियारा, कायचिट्ठं पई भवे।
   अहवा सपरिकम्मा, अपरिकम्मा या आहिया।
   नीहारिमनीहारी, आहराच्छेओ दोसु वि।।
   उत्तरा०सू०, 30/12-13
4. यावज्जीविकं तु त्रिविधम्–पादोमगनं, इंगिनीं, भक्तप्रत्याख्यानमिति।।
   तत्त्वा०, पृ० 237
5. जै०सि०दी० 6/31

जितना भोजन कर सकता है, उसमें से कम से कम एक सिक्थ अर्थात् एक कण अथवा एक ग्रास के रूप में कम भोजन करना द्रव्य रूप से ऊनोदरी तप है।[1] आगम साहित्य में ऊनोदरी तप के ऊनोदरिका,[2] अवमोदरिका[3] अवमौदर्य[4]–ये तीन नाम उपलब्ध होते हैं।

1. द्विविध भेद

औपपातिकसूत्र में ऊनोदरिका तप के दो भेद बतलाए गए हैं–द्रव्य ऊनोदरिका और भाव ऊनोदरिका।[5]

द्रव्य ऊनोदरिका

खान-पान आदि से सम्बद्ध पदार्थों का पेट भरकर उपयोग नहीं करना, भूख से कम खाना द्रव्य ऊनोदरिका है। द्रव्य ऊनोदरिका के दो भेद बतलाए गए हैं–1. उपकरणद्रव्यऊनोदरिका, 2. भक्तपानऊनोदरिका।[6]

भाव ऊनोदरिका

आत्म प्रतिकूल या आवेशमय भावों का चिन्तन विचार में उपयोग न करना भावऊनोदरिका है। भवऊनोदरिका के अनेक भेद हैं–अल्प क्रोध-अल्प मान-अल्प माया-अल्प लोभ आदि।[7]

2. त्रिविध भेद

स्थानांगसूत्र में ऊनोदरिका तप के तीन भेद आते हैं–1. उपकरण अवमोदरिका, 2. भक्तपान अवमोदरिका, 3. भाव अवमोदरिका।[8]

1. जो जस्स उ आहारो, तत्तो ओमं तु जो करे।
   जहन्नेगेण सित्थाई, एवं दव्वेण ऊ भवे।। समण०, 448
2. सम०सू०, 6 तथा दे०–उत्तरा०सू०, 30/8
3. स्था०सू०, 3/3/381 तथा दे०–भग०सू०, 25/7
4. उत्तरा०सू०, 30/14 तथा दे०, त०सू०, 9/19
5. ओमोयरियाओ दुविहा पण्णत्ता, तंजहा–दव्वोमोयरिया, भावमोयरिया य। औप०सू०, 30
6. दव्वोमोयरिया दुविहा पण्णत्ता, तंजहा–उवगरणदव्वोमोयरिया य भत्तपाण दव्वोमोयरिया य।।
   औप०सू०, 30
7. भावोमोयरिया अणेगविहा पण्णत्ता, तंजहा-अप्पकोहे, अप्पमाणे, अप्पमाए, अप्पलोहे, अप्पसद्दे, अप्पझंझे।। औप सू, 30
8. तिविहा ओमोयरिया पणत्ता, तंजहा--उवगरणो मोयरिया, भत्तपाणो मोयरिया, भावोमोयरिया।।
   स्था०सू०, 3/3/389

3. पंचविध भेद

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार ऊनोदरी तप के पांच भेद बतलाए गए हैं–द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव व पर्यायों की अपेक्षा से।[1]

द्रव्य ऊनोदरी

जिस व्यक्ति को जितनी आहार की मात्रा है, उसमें से कम से कम एक ग्रास कम खाना द्रव्य से ऊनोदरीका तप है।[2]

क्षेत्र ऊनोदरी

ग्राम, नगर, राजधानी और निगम में, आकर पल्ली, खेटक और कर्वट द्रोणमुख, पत्तन और संबाध में, आश्रम पद, विहार, सन्निवेश, समाज, घोष, स्थल, सेना, स्कन्धवार, सार्थ, संवर्त और कोट में तथा घरों के समूह, रथ्या और ग्रहों में आदि एतावन्मात्र क्षेत्र में जो भिक्षाचरण करना है। यदि शब्द से अन्य गृहशाला आदि जानना चाहिए।[3] इस प्रकार से यह सब क्षेत्र सम्बन्धी ऊनोदरीतप कहा गया है। अन्य प्रकार से पेटिका, अर्द्धपेटिका, गोमूत्रिका, पतंगवीथिका, शंखावर्त आकार में तथा लम्बा गमन करके फिर लौटते हुए भिक्षाचरी करना–यह छह प्रकार का क्षेत्र संबंधी ऊनोदरी तप माना गया है या कहलाता है।[4]

काल ऊनोदरी

दिन की चार पोरसियों अर्थात् प्रहरों में से जिस प्रहर में भिक्षा करने का अभिग्रह धारण किया हो, केवल उसी प्रहर में भिक्षाटन करना काल ऊनोदरीतप

1. ओमोयरणं पंचहा, समासेण विहाहिय।
   दव्वओ, खेत्त, कालेणं, भावेण पज्जवेहि य।।
   उत्तरा०सू०, 30/14
2. वही, 30/15
3. गामे नगरे तह रायहाणि, निगमे य आगरे पल्ली,
   खेडे कव्वड दोणमुह पट्टण-मडब-संवाहे।।
   आसमपए विहारे, सन्निवेसे समाय घोसे।
   थलि-सेणा-खंधारे-सत्थे संवट्ट-कोट्टे य।।
   वाडेसु व रत्थासु व, घरेसु वा एवमित्तियं खेतं।
   कप्पइ उ एवमाई, एवं खेत्तेण ऊ भवे।।
   वही, 30/16-19
4. वही, 30/19

कहलाता है। उत्तराध्ययनसूत्र में बतलाया गया है कि तृतीय पौरुषी के किसी भी न्यूनतम भाग में अथवा न्यूनतम चतुर्थ भाग में ही भिक्षाटन करना काल ऊनोदरीतप होता है।[1]

भाव ऊनोदरी

भाव ऊनोदरी से तात्पर्य है–आन्तरिक वृत्तियों की ऊनोदरी अर्थात् आन्तरिक अशुभ वृत्तियों को कम करना। भाव ऊनोदरी में कषायों को कम करना आवश्यक है। साधक को कम व परिमित बोलना चाहिए।[2] उत्तराध्ययनसूत्र में बतलाया गया है कि जो केवल स्त्री या केवल पुरुष से अथवा अलंकार युक्त स्त्री-पुरुष या अनलंकृत स्त्री-पुरुष से अथवा अमुक जाति व अमुक प्रकार के वस्त्रों से युक्त स्त्री-पुरुष से अथवा अमुक भावना भाते स्त्री-पुरुष से ही भिक्षा करूँगा, इस प्रकार के अभिग्रहधारी साधु के तप को भाव ऊनोदरीतप कहा गया है।[3]

(अ) पर्यवचरक ऊनोदरी

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में जो-जो भाव कथन किए गए हैं, उन सबको लक्ष्य में रखकर अर्थात् उपर्युक्त चारों अभिग्रहों से युक्त होकर जो मुनि भिक्षाचारी करता है, उसके ऐसे तप को पर्यवचरक ऊनोदरीतप कहा जाता है।[4]

3. भिक्षाचरीतप

इस तप का संबंध विशेषकर मुनि से है। स्थानांगसूत्र, भगवतीसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र और औपपातिकसूत्र में भिक्षाचरी नाम प्राप्त होता है, किन्तु समवायांगसूत्र,[5] तत्त्वार्थसूत्र[6]

1. दिवसस्स पोरूसीणं, चउण्हंपि उ जत्तिओ भवे कालो।
   एवं चरमाणो खलु, कालोमाणं मुणेयव्वं।। उत्तरा० सू०, 30/20
2. अप्पं भासेज्ज सुव्वए।। सूत्र०सू०-1/8/25
3. इत्थी वा पुरसो वा, अलंकिओ वाऽणलंकिओ वा वि।
   अन्नयरवयत्थो वाव, अन्नयरेणं व वत्थेणं।
   अन्नेण विसेसेणं, वण्णेणं भावमणुमुयन्ते उ।
   एवं चरमाणे खलु, भावोमाणं मुणेयव्वो।। उत्तरा०सू०, 30/22-23
4. दव्वे खेते काले भावम्मि य आहिया उ जे भावा।
   एएहिं ओमचरओ, पज्जवचरओ भवे भिक्खू।
   उत्तरा०सू०, 30/24
5. सम०सू०, 6-1
6. त०सू०, 9/19

व जैनसिद्धांतदीपिका में इसे वृत्तिसंक्षेप और वृत्तिपरिसंख्यानसूत्र तप कहा गया है।[1] उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार–आठ प्रकार की गोचरी, सात प्रकार की एषणाएँ और जो अन्य अभिग्रह हैं–ये सब भिक्षाचारी में कहे गए हैं।[2] समणसुत्तं में भी आता है कि आहार के लिए निकलने वाले साधु का वह वृतिपरिसंख्यान नामक तप है, जिसमें वह आहार का प्रमाण या प्रणिधान करता है कि 'आज भिक्षा के लिए इतने घरों में जाऊँगा, अमुक प्रकार के दाता द्वारा दिया हुआ अमुक प्रकार के बर्तन में रखा आहार ग्रहण करूँगा'।[3]

भगवतीसूत्र[4] में भिक्षाचरी तप के तीस भेदों का उल्लेख मिलता है। आचारांगसूत्र,[5] उत्तराध्ययनसूत्र[6] एवं दशवैकालिकसूत्र[7] प्रभृति आगमों में भिक्षा के लिए 'गोयर' (गोचर) सूत्र शब्द अधिक मात्रा में प्रयुक्त हुआ है। गोचरी (भिक्षाचारी) को मधुकरी भी कहते हैं।[8]

भिक्षा लेने के लिए उपस्थित साधक निम्न आठ प्रकार से भिक्षा लेने की कल्पना करता है[9]–

पेटिका

पेटिका की तरह गाँव में जो घर हैं, उन घरों को चार भागों में विभक्त कर चौकोर गति से भिक्षा लेना पेटिका है।

---

1. नानाभिग्रहाद वृत्त्यवरोधो वृत्तिसंक्षेपः।।
   जै०सि०दी, 6/32
2. अट्ठविहगोयरग्ग तु, तहा सत्तेव एसणा।
   अभिग्गहा य जे अन्ने, भिक्खायरियमाहिया।।
   उत्तरा०सू०, 30/25
3. गोयरपमाणदायग, भायणणाणाविधाणं जं गहणं।
   तह एसणस्य गहणं, विविधस्य य वृत्तिपरिसंखा।।
   समण०, 449
4. भग०सू०, 25/7 तथा दे०औप०सू०, 30
5. आ०सू०, 2/1
6. उत्तरा०सू०, 30/25
7. दशवै०सू०, 5/1/3
8. वही, 1/2-3
9. प्र०सा०, 745

अर्धपेटिका

घरों को दो भागों में विभक्त कर भिक्षा लेना अर्धपेटिका है।

गोमूत्रिका

गाय के मूत्र की धारा के समान टेढ़ी-मेढ़ी गति से भिक्षा लेना गोमूत्रिका है।

पतंग वीथिका

पतंग की भांति बीज-बीच में घरों को छोड़कर भिक्षा लेना पतंग वीथिका है।

गत्वाप्रत्यागता

एक ओर से घरों में भिक्षा ग्रहण करता हुआ चला जाना और उसके किनारे पहुँचकर लौटते समय दूसरी पंक्ति के घरों से भिक्षा लेना गत्वाप्रत्यागता है।

शंखावर्त

शंख के समान गोल चक्करदार गति से भिक्षा ग्रहण करना शंखावर्त है।

ऋजुगति

सरल गति से भिक्षा लेना ऋजुगति भिक्षाचरी है।

वक्रगति

टेढ़ी गति से भिक्षा ग्रहण करना वक्रगति है।

4. रस-परित्याग तप

विकार उत्पन्न करने वाले दूध, दही, घी आदि तथा प्रणीत अर्थात् मिठाईयाँ आदि पौष्टिक पदार्थों का तथा रस युक्त खाद्य, पेय पदार्थों का परित्याग करना रस परित्यागतप कहलाता है।[1] स्थानांगसूत्र में दूध, दही, नवनीत, घृत तेल, गुड़, मधु, मद्य और मांस–ये नौ विकृतियाँ बतलायी गयी हैं।[2]

1. खीर दहि सप्पिमाई, पणीयं पाणीभोयणं।
   परिवज्जणं रसाण तु, भणियं रसविवज्जणं।।
   उत्तरा०सू०, 30/26
2. स्था०सू०, 923
   विशेष के लिए दे०-सागार०, 5/35

औपपातिकसूत्र में रस परित्याग का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। वहाँ उसके निम्न नौ प्रकार बताए हैं[1]–

निर्विकृति

रस विकृति का त्याग निर्विकृति रसपरित्याग है।

प्रणीत रस परित्याग

जिस आहार में घी झरता हो या जो अति स्निग्ध हो, उसका त्याग प्रणीत रसपरित्यागतप है।

आचाम्ल (आयम्बिल)

भुना हुआ या रंधा हुआ किसी एक प्रकार का धान्य पानी के साथ ग्रहण करना आचाम्लरसपरित्याग तप है।

आयामसिक्थ भोजन

धान्य के धोवन के साथ कुछ अन्न का ग्रहण करना आयामसिक्थ रसपरित्याग तप है।

अरस आहार

रस रहित भोजन करना, जैसे उड़द के बांकुले चने, कुल्माष आदि गुण ग्रहण करना अरसरसपरित्याग तप है।

विरस आहार

जिस भोजन का रस समाप्त हो गया हो, ऐसे बेस्वाद भोजन को ग्रहण करना विरसरसपरित्याग तप है।

अन्त्य आहार

नीरस आहार, जघन्य आहार करना अन्त्यरसपरित्याग तप है। जैसे–चने, उड़द आदि के छिलके जो अंतिम बचे हुए हैं, उनका आहार करना।

1. रसपरिच्चाए अणेगविहे पण्णत्ते। तंजहा–निव्वीइए, पणीय रस परिच्चाए
   आयंबिलिय, आयामसित्थ भोजी, अरसाहारे, रिसाहारे, अंताहारे, पंताहारे, लूहाहारे।।
   औप०सू०, 30

प्रान्त्य आहार

सभी लोगों के भोजन कर लेने के बाद बचा हुआ ठण्डा आहार ग्रहण करना प्रान्त्यरसपरित्याग तप है।

रूक्ष आहार

रूखा आहार रूक्ष आहार कहलाता है।

इस प्रकार शरीर के पुष्टिकारक विकारी रसमयी तत्त्वों का सेवन करना एक संयमी को सर्वथा वर्ज्य है।

5. कायक्लेश तप

यह बाह्य तप का पाँचवाँ भेद है। कायक्लेश का अर्थ स्पष्ट है–काया को कष्ट देना। वस्तुतः शरीर को दुःख देना कायक्लेश कहा जाता है। आत्मा के लिए सुखोत्पादक शरीर की विशेष स्थिति के रूप में किए जाने वाले उग्र (कठिन) वीरासन आदि को धारण करना कायक्लेशतप है।[1] गिरा, कन्दरा आदि भयंकर स्थलों में आत्मा के लिए सुखासन, वीरासन आदि उग्र आसनों का अभ्यास करना अथवा उनका धारण करना कायक्लेशतप बतलाया गया है।[2]

स्थानांगसूत्र के कायक्लेश तप के सात प्रकार निर्दिष्ट हैं–1. स्थान आसन, 2. उकडू आसन, 3. प्रतिमा आसन, 4. वीरासन, 5. निषधा आसन, 6. दण्डायत आसन, 7. लगण्डशयनासन।[3]

जबकि औपपातिकसूत्र में कायक्लेश के चौदह प्रकार बतलाए गए हैं–कायोत्सर्ग करना, एक स्थान पर अवस्थित रहना, उत्कुट आसन करना, प्रतिमा धारण करना, वीरासन करना, स्थिर आसन से बैठना, दण्डे की तरह सोना या बैठना, वक्र काष्ठ की तरह सोना, आतापना ग्रहण करना, वस्त्र आदि का परित्याग करना, खुजली नहीं करना, थूकना नहीं, परिकर्म से रहित होना और विभूषा नहीं करना कायक्लेशतप है।[4]

1. ठाणा वीरासणाईया, जीवस्स उ सुहावहा।
   उग्गा जहा धरिज्जन्ति, कायकिलेसं तमाहियं।।
   उत्तरा०–30/27
2. समण०, 452
3. स्था०सू०, 7/554
4. औप०सू० 30

कायक्लेश का तात्पर्य पूर्ण रूप से शरीर को शरीर स्थिर करना है और इसके लिए विविध आसनों के उल्लेख हैं। हेमचन्द्राचार्य ने योगशास्त्र में मुख्य रूप से जिन आसनों का उल्लेख किया है, वे हैं–पर्यंकासन, वीरासन, वज्रासन, पद्मासन, भद्रासन, दण्डासन, उत्कटिकासन, गोदोहिकासन, कायोत्सर्गासन।[1]

पर्यंकासन

दोनों जंघाओं के निचले भाग पैरों के ऊपर रखने पर और दाहिना और बायां हाथ नाभि के पास ऊपर दक्षिण और उत्तर में रखने से पर्यंकासन होता है–

स्याज्जंघयोरधोभागे, पादोपरि कृते सति।
पर्यङ्को नाभिगोत्तान-दक्षिणोत्तर-पाणिकः।।[2]

वीरासन

बायां और दाहिनी जांघ पर तथा दाहिना पैर बायीं जांघ पर जिस आसन में रखा जाता है। वह विरोचित आसन वीरासन कहलाता है।[3]

वज्रासन

पूर्वकथित वीरासन करने के बाद वज्र की आकृति के समान दोनों हाथ पीछे रखकर, दोनों हाथों से पैर के अंगूठे पकड़ने पर जो आकृति बनती है, वह वज्रासन कहलाती है।[4]

पद्मासन

एक जांघ के साथ दूसरी जांघ को मध्यभाग में मिलाकर रखने को पद्मासन कहा है–

1. पर्यंक-वीर-वज्राब्ज-भद्र-दण्डासनानि च।
   उत्कटिका-गोदोहिका-कायोत्सर्गस्तथाऽऽसनम्।।
   योग०, 4/124
2. वही, 4/125
3. वामोऽहिर्दक्षिणोरूरूर्ध्व-वामोपरि दक्षिणः।
   क्रियते यत्र तद्वीरोचितं वीरासनं स्मृतम्।।
   वही, 4/126
4. पृष्ठे वज्राकृतिभूते, दोर्भ्यां वीरासने सति।
   गृह्णीयात् पादयोर्यत्राङ्गुष्ठौ वज्रासनं तु तत्।।
   वही, 4/127

जङ्घाया मध्यभागे तु, संश्लेषो यत्र जङ्घया।
पद्मासनमतिप्रोक्तं, तदासन विचक्षणैः।।[1]

भद्रासन

दोनों पैरों से तलभाग वृषण प्रदेश में (अण्डकोषों की जगह) एकत्र कर उसके ऊपर दोनों ही अंगुलियां एक दूसरी अंगुली में डालकर रखना भद्रासन कहलाता है।[2]

दण्डासन

पैरों की अंगुलियां समेट कर एड़ी के ऊपर वाली गांठ (टखना) एकत्र करके नितम्ब को भूमि से स्पर्श करके बैठें, पैर लम्बे करें, उसे दण्डासन कहते हैं।[3]

उत्कटिकासन और गोदोहिकासन

जमीन से लगी हुई एड़ियों के साथ जब दोनों नितम्ब मिलते हैं, तब उत्कटिकासन होता है। उसी आसन से बैठकर जब दोनों एड़ियों से भूमि का त्याग किया जाता है और गाय दुहने के समय जिस आसन से बैठा जाता है, उस तरह बैठना गोदोहिकासन कहलाता है। यथा–

पुतपार्ष्णिसमायोगे, प्राहुरुत्कटिकासनम्।
पार्ष्णिभ्यां तु भुवस्त्यागे, तत्स्याद गोदोहिकासनम्।।[4]

कायोत्सर्गासन

दोनों भुजाओं को नीचे लटकाकर खड़े होकर अथवा बैठकर शरीर ममत्व त्याग कर स्थिर रहना कायोत्सर्गासन है।[5]

---

1. योग०, 4/129
2. सम्पुटीकृत्य मुष्काग्रे, तलपादौ तथोपरि।
   पाणिकच्छपिकां कुर्याद् यत्र भद्रासनं तु तत्।।
   वही, 4/130
3. श्लिष्टाङ्गुली श्लिष्टगुल्फौ भूश्लिष्टोरू प्रसारयेत्।
   वज्रोपविश्य पादौ तद, दण्डासनमुदीरितम्।।
   वही, 4/131
4. योग०, 4/132
5. वही, 4/133

जैन परम्परा में किसी आसन विशेष पर ही बल नहीं दिया गया है फिर भी वही आसन अधिक उपयोगी बतलाए गए हैं, जिनके करने से साधना में स्थिरता आती है।

केशों का लुंचन, पैदल विचरना, परीषह सहन करना, स्नान न करना, शरीर का मैल न उतारना आदि भी कायक्लेश के अन्तर्गत आते हैं।

6. प्रतिसंलीनता तप

यह बाह्य तप का छठा भेद है। भगवती सूत्र से भी इसका समर्थन होता है।[1] संलीनता का अर्थ है–संकोच या निग्रह। अतः असद वृत्तियों से इन्द्रियों को हटाना, मन का निग्रह करना और सद्वृत्तियों मे मन को लगाना, इन्द्रियों को शुभ में प्रवृत्त करना प्रतिसंलीनता तप है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार–एकान्त और जहाँ कोई भी आता जाता न हो, ऐसे स्त्री, पशु और नपुंसक रहित स्थान में शयन और आसन करने को विविक्तशयनासन अथवा प्रतिसंलीनता तप कहा गया है।[2] तत्त्वार्थसूत्रकार ने भी ऐसा ही माना है,[3] अतः विवेचन से स्पष्ट होता है कि कुछ ग्रन्थों में संलीनता या प्रतिसंलीनता और कुछ ग्रंथों में 'विविक्तशय्यासन' या विविक्तशय्या का प्रयोग मिलता है किन्तु औपपातिकसूत्र के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मूल शब्द 'प्रतिसंलीनता' है। विविक्तशय्यासन उसी का एक अवान्तर भेद है।

विविक्त का अर्थ एकान्त होता है, अभिप्राय यह है कि एकान्त, अनापात और स्त्री-पुरुषादि से रहित स्थान में शयन एवं आसन ग्रहण करना विविक्तशयनासन नामक तप है।[4] जैनसिद्धान्तदीपिका में इन्द्रिय आदि का बाह्य विषयों से प्रतिसंहरण करना उनकी बहिर्मुखवृत्ति को अन्तर्मुखी बनाना प्रतिसंलीनता है–इन्द्रियादीनां बाह्य विषयेभ्यः प्रतिसंहरणं प्रतिसंलीनता।[5]

यह प्रतिसंलीनता चार प्रकार की होती है। जैसे कि–

---

1. भग०सू०, 24/7/802
2. एगतमणावाए, इत्थी पसुविवज्जिए।
   सयणासण सेवणया, विवित्तसयणासणं।।
   उत्तरा०सू०, 30/28
3. त०सू०, 9/19
4. समण०, 451
5. जै०सि०दी०, 6/35

1. इन्द्रिय प्रतिसंलीनता, 2. कषाय प्रतिसंलीनता, 3. योग प्रतिसंलीनता, 4. विविक्त शय्यासन सेवन।[1]

इन्द्रिय प्रतिसंलीनता

राग-द्वेष की उत्पत्ति करने वाले शब्दों के श्रवण से कानों को रोकना, विकारजनक रूप को देखने से नेत्रों को, गंध से घ्राणेन्द्रिय को, रस से जिह्वा को एवं स्पर्श से स्पर्शेन्द्रिय को रोकना इन्द्रिय प्रतिसंलीनता तप है।

कषाय प्रतिसंलीनता

कषाय व्यक्ति को विवेक भ्रष्ट बनाता है। इसलिए आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाक्षमण ने कहा है कि देशोनकोटि पूर्व तक महान् साधना कर जो फल प्राप्त किया हो, वह महान् फल अन्तर्मुहूर्त के कषाय से नष्ट हो जाता है।[2] अत: क्षमा से क्रोध का का, विनय से मान का, सरलता से माया का, संतोष से लोभ का निग्रह करना कषाय प्रतिसंलीनता है।[3]

योग प्रतिसंलीनता

असत्य और मिश्र मन-वचन का त्याग करके सत्य मन-वचन तथा व्यवहार मन-वचन योगों का यथोचित प्रयोग करना तथा औदारिक, ओदारिकमिश्र, वैक्रिययोग, वैक्रियमिश्र योग, आहारयोग और कार्मणयोग-इन सातों काययोगों को अशुभ से निवृत्त करके शुभ में प्रवृत्त करना योगप्रतिसंलीनता है।

विविक्त शयनासन

वाटिका, बगीचा, उद्यान अथवा यक्षादि देवों को स्थान हों, हाट, दुकान, हवेली, उपाश्रय, गुफा, श्मशान में, किसी वृक्ष के नीचे, जहाँ स्त्री, पशु व नपुंसक का

1. पडिसंलीणया चउविहा पण्णत्ता, तंजहा-इंदिअपडिसंलीणया, पडिसंलीणया, जोगपडिसंलीणया, विविक्तसयणासण सेवणया।।
   भग०सू०, 25/7/118
   तथा दे० औप०सू०, 30
2. जं अज्जियं चरित देसुण्णए वि पुव्वकोडिए।
   तं पि कसायमे तो नासेइ नरो मुहुर्त्तेणं।।
   नि०बु०, 2793
3. दशवै०सू०, 8/39

योग न हा, ऐसे एकान्त स्थान में एक हैं-1. ब्रह्मचर्य की रक्षा, 2. अभय भाव की साधना।

आभ्यन्तर तप

जिस तप साधना के साथ शरीर की अपेक्षा मन और अन्तरंग वृत्तियों का अधिक सम्बन्ध हो, वह आभ्यन्तर तप कहलाता है, कारण यह है कि इस साधना में कायिक कष्ट की अपेक्षा मानसिक एकाग्रता, सरलता और परिणामों की उज्ज्वलता का प्रभाव अधिक रहता है।

बाह्य साधना की अपेक्षा अभ्यन्तरतप ही उपादेय है, मानव को कल्याणकर है क्योंकि बाह्य द्रव्यों की उपेक्षा होने से चित्तगत एकाग्रता का वृद्धिगत होना ही आभ्यन्तर तप है।[1] इसी से परिणामों में कषायों की मनदता से समभाव आता है और आत्म सम्मुखता भी होती है। आत्म सम्मुखता से आत्म साक्षात्कार अर्थात् स्वस्वरूपोलब्धि ही तप का मुख्य उद्देश है। आभ्यन्तर तप पूर्व की तरह छह भेदों वाला है। जैसे कि-

1. प्रायश्चित तप

आभ्यन्तर तप में प्रायश्चित तप का प्रथम स्थान है। प्रायश्चित का प्राय: सभी दर्शनों में विधान मिलता है। जो भी हो, प्रायश्चित का अर्थ है-पाप का शोधन करना। इस प्रकार पाप को शुद्ध करने की क्रिया का नाम प्रायश्चित है।[2] पूर्वकृत दोषों की आलोचना कर आत्मशुद्धि के लिए प्रायश्चित ग्रहण करना प्रायश्चित तप है।[3] प्रायश्चित पाप का छेन कर चित्त को विशुद्ध करता है।[4] अत: मूल एवं उत्तर गुणों में अतिचार लगने पर चित्त में मलीनता आ जाती है, तो उसकी शुद्धि के लिए[5]

1. बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वा-दान्तरं तप उच्यते।।
   तत्वा०, 249
2. प्राय: पापं विर्निर्दिष्टं चित्तं तस्य विशोधनम्।।
   धर्म०, 3 अधिकार
3. आलोयणारिहाईयं, पायच्छित्तं तु दसविहं।
   जं भिक्खु वहई सम्मं, पायच्छित्तं तमाहियं।।
   उत्तरा०सू०, 30/31
4. पापं छिनत्ति यस्मात् प्रायश्चित्तमित्ति भण्यते तस्मात्।
   प्रायेण वापि चित्तं विशोधयति तेन प्रायश्चितम्।। (हरिभद्रवृत्ति) दशवै०, 1/1
5. अतिचार विशुद्धये प्रयत्न: प्रायश्चितम्।। जै०सि०दी०, 3/37